आदिपुराण में जैन दर्शन के तत्त्व

डॉ० उदयचन्द जैन

पुराण का भारतीय संस्कृति में स्थान—प्राचीन भारतीय साहित्य में पुराणों का महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है। ये हमारी संस्कृति एवं धर्म के संरक्षक और सर्वसाधारण जनों को नीति, चरित्र, योग, सदाचार आदि की शिक्षा देने वाले ग्रन्थ हैं। इनका एकमात्र उद्देश्य धार्मिक संस्कारों को दृढ़ करना तथा सरल, सुबोध भाषा में अध्यात्म के गूढ़ तत्वों को समझाना रहा है, इसलिए ये ज्ञान-विज्ञान के कोश कहे जाते हैं। इनमें सभी वेद और उपनिषदों के ज्ञान को विभिन्न कथानकों के माध्यमों से समझाने का प्रयास किया गया है।

पुराण-साहित्य का विकास आज से नहीं, अपितु प्राचीन काल से ही होता आया है। इनकी कथा, कहानी एवं दृष्टांत प्राचीन ही हैं। ये सर्वसाधारण के उपकार की दृष्टि से ही लिखे गये हैं। इनमें तत्त्वों का विवेचन लोकोपकारी कथानकों तथा प्रभावशाली दृष्टान्तों द्वारा किया गया है। इसलिए इनका प्रभाव आज भी स्पष्ट है। यदि हम इनके विशिष्ट पहलुओं पर विचार करके देखें, तो इनकी शिक्षा को कभी भी किसी भी युग में अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। आज जो कुछ भी धार्मिकता हम देख रहे हैं, वह सब पुराण-साहित्य का ही योगदान कहा जा सकता है। अतः यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि पुराण भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के लोकप्रिय और अनुपम रत्न हैं।

जैन दर्शन का भारतीय दर्शन में स्थान—भारतीय संस्कृति की परम्परा अतिप्राचीन मानी जाती है। मनुष्य ने अपने जीवन की समस्याओं को सुलझाने के लिए किसी न किसी दृष्टिकोण का सहारा अवश्य लिया होगा। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृति की प्राचीनता के साथ दार्शनिक प्राचीनता अवश्य दिखलाई देती है। परन्तु इसका प्रारम्भ कब हुआ, इसका निर्णय करना अत्यन्त कठिन है।

भारतीय दार्शनिक विचारधारा के आदि-स्रोत वेद और उपनिषद् माने गये हैं। उत्तरवर्ती काल में इसमें न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा दर्शन के साथ जैन-बौद्ध दर्शन के सिद्धान्तों का भी समावेश हो गया। ये सभी दर्शन तथा जैन दर्शन स्वतन्त्र रूप से विकसित हुए हैं।

इनमें से जैन दर्शन एक बहुतत्ववादी दर्शन है, जिसने वस्तु को अनन्तधर्मात्मक बतलाकर **स्याद्वाद** की निर्दोष शैली को प्रतिपादित किया। अहिंसा की विचारधारा को जनसाधारण के जीवन के विकास के लिए उपयोगी कहा और कर्म के सिद्धान्त द्वारा व्यक्ति को महान् बतलाया।

जैन दर्शन के क्षेत्र में आदिपुराण का महत्व—आदिपुराण का नाम लेते ही सिद्ध हो जाता है कि यह जैन दर्शन का अनुपम रत्न है। साहित्याचार्य ने इसे जैनागम के प्रथमानुयोग ग्रन्थों में सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ कहा है तथा इसे समुद्र के समान गम्भीर बतलाया है।[1]

जैन साहित्य का विकासक्रम तत्वार्थसूत्र के रचयिता उमास्वामी से माना जाता है। इन्होंने विक्रम की प्रथम शती में नवीन शैली से दार्शनिक दृष्टि को सामने रखकर तत्वनिरूपण किया था। उसी के आधार पर पूज्यपाद, अकलंक, विद्यानन्द आदि महान् आचार्यों ने सर्वार्थसिद्धि, तत्वार्थश्लोकवार्तिक, तत्वार्थराजवार्तिक आदि महाभाष्य लिखे। जैसे-जैसे विकास होता गया, वैसे-वैसे ही दार्शनिकों ने जैन दार्शनिकता का अपनी-अपनी शैली में प्रतिपादन किया।

आठवीं शती तक जैन दर्शन का परिष्कृत रूप सामने आ गया था। नवमी शती में जिनसेन ने भी पूर्वाचार्यों द्वारा जिन कथानकों, तत्वों का (जिस रूप में) वर्णन किया उसी का आधार लेकर काल-वर्णन, कुलकरों की उत्पत्ति, वंशावली, साम्राज्य, अरहंत अवस्था, निर्वाण और युग-विच्छेद[2] का वर्णन किया है।

आदिपुराण के विषय में जिनसेन के शिष्य गुणभद्राचार्य ने पुराण तथा अपने गुरु की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि आगम रूपी समुद्र

१. आदिपुराण की प्रस्तावना, पृ० ५०
२. आदिपुराण, २/१५८-१६२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से उत्पन्न हुए इस धर्म रूपी महारत्न को कौस्तुम मणि से भी अधिक मानकर अपने हृदय में धारण करें, क्योंकि इसमें सुभाषित रूपी रत्नों का संचय किया गया है। यह पुराण रूपी समुद्र अत्यन्त गम्भीर है, इसका किनारा बहुत दूर है। इस विषय में मुझे कुछ भी भय नहीं है, क्योंकि सब जगह दुर्लभ और सबसे श्रेष्ठ गुरु जिनसेनाचार्य का मार्ग मेरे आगे है, इसलिए मैं भी उनके मार्ग का अनुगामी शिष्य प्रशस्त मार्ग का आलम्बन कर अवश्य ही पुराण पार हो जाऊंगा।[१]

जैन सिद्धान्त में आत्मतत्व का विस्तृत विवेचन किया गया है। जैनाचार्यों ने भी आत्मतत्वज्ञान पर विशेष बल दिया है। इसी तत्वज्ञान के प्रचार-प्रसार की दृष्टि को रखकर जिनसेनाचार्य ने भी पुराण की रचना की, जिसमें उन सभी सिद्धान्तों का कथानकों के साथ समावेश हो गया, जिन्हें पूर्वाचार्यों ने लिपिबद्ध किया था। अत: प्रस्तुत पुराण जैनागमों और जैन दर्शन में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसलिए यह पुराण श्रेष्ठ कहा जाता है।

आदिपुराण का वर्ण्य-विषय—जैन धर्म के आद्य प्रवर्तक तीर्थंकर ऋषभदेव माने जाते हैं। इन्होंने ही सर्वप्रथम अपनी पुत्री ब्राह्मी और सुन्दरी को क्रमशः अक्षरलिपि और अंकलिपि का ज्ञान कराया। राज्य-व्यवस्था के लिए कर्म के अनुसार समाज का क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के रूप में विभाजन किया। वीर प्रकृति वालों को क्षत्रिय, व्यापार और कृषिप्रधान वृत्ति वालों को वैश्य और शिल्प, नृत्य, संगीत आदि कलाओं में निपुणों को शूद्र वर्ण की संज्ञा दी। भगवान् ऋषभदेव के द्वारा श्रमण धर्म स्वीकार कर लेने के उपरान्त भरत चक्रवर्ती ने व्रत, ज्ञान और चारित्र में निपुण व्यक्तियों को ब्राह्मण कहा। इस तरह गुण और कर्म के अनुसार वर्ण-व्यवस्था की।

ऋषभदेव ने असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प इन छः कर्मों द्वारा प्रजा के लिए आजीविका करने का उपदेश दिया। तलवार आदि शस्त्र धारण कर सेवा करना **असिकर्म** है। लिखकर आजीविका करना **मसिकर्म** है। जमीन को जोतना, बोना **कृषिकर्म** है। शास्त्र पढ़ाकर या नृत्य-गायन आदि के द्वारा आजीविका करना **विद्याकर्म** है। व्यापार करना **वाणिज्य** है और हस्त की कुशलता से जीविका करना **शिल्पकर्म** है। उस समय प्रजा अपने-अपने योग्य कर्मों को यथा-योग्य रूप से करती थी।

भगवान् ऋषभदेव कर्मभूमि व्यवस्था के अग्रदूत होने से आदिपुरुष[२] या आदिनाथ कहलाये। उन्होंने राज्य-व्यवस्था और समाज-कल्याण की भावना से धर्मतीर्थ का प्रवर्तन किया। नृत्य करने वाली नीलांजना को नष्ट होते देख उन्होंने सोचा कि इस संसार में सुख किंचित् भी नहीं है। मनुष्य का यह शरीर एक गाड़ी के समान है जो दुःख रूपी खोटे बर्तनों से भरी है, यह कुछ ही समय में नष्ट हो जाएगी।

आदिपुराण में तीर्थंकर, आचार्य और मुनियों के उपदेशों का सम्यक् विवेचन किया गया है। इन उपदेशों द्वारा व्यक्ति की आचरण सम्बन्धी महत्वपूर्ण बातों का ज्ञान कराया गया है तथा दार्शनिक तत्वज्ञान का विशेष उल्लेख किया गया है।

आदिपुराण के दार्शनिक विचार : जगत् का अस्तित्व

सभी भारतीय दर्शन जगत् को सत्य मानने हैं। न्याय-वैशेषिक जगत् को सत्य मानकर दिक् में अवस्थित मानते हैं। उनका कहना है कि जगत् की उत्पत्ति परमाणुओं से हुई है और ईश्वर ने ही इन जगत् के परमाणुओं की उत्पत्ति की है। इसलिए ईश्वर की तरह जगत् के परमाणु भी अनादि और अनन्त हैं। सांख्य-योग सत्व, रजस् और तमस्---इन तीन गुणों को प्रकृति के परिणाम कहते हैं। ये परिणाम सत्य रूप हैं। अतः जगत् भी सत्य है। मीमांसा दर्शन भी न्याय-वैशेषिक की तरह जगत् को सत्य मानता है और इसकी उत्पत्ति का मूल-कारण परमाणु और कर्म के नियम को बताता है। वेदान्त ने व्यावहारिक दृष्टि से जगत् को सत्य माना है। बौद्ध-जैन भी जगत् को सत्य मानते हैं।

जैन दर्शन जगत् को जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश औरकाल—छः द्रव्य रूप मानता है। ये छः द्रव्य नित्य हैं, इसलिए यह जगत् भी नित्य है। इसे किसी ईश्वर ने नहीं बनाया, न ही इसका कभी नाश हो सकता है। न्याय-वैशेषिक की इस दृष्टि को अवश्य ध्यान में रखा जा सकता है कि उन्होंने जगत् को परमाणुओं से निर्मित बतलाया है। जैन दर्शन भी परमाणुओं को मानता है पर पुद्गल परमाणुओं की उत्पत्ति ईश्वर ने की है यह उसे मान्य नहीं है। परन्तु इतना तो अवश्य माना जा सकता है यह दृश्यमान् जगत् किन्हीं मूल पदार्थों के संयोग से अवश्य बना हुआ है।

विश्व (जगत्) के समस्त पदार्थ किसी न किसी रूप में अवश्य बने रहते हैं, इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि जगत् अवश्य है। इस जगत् में जीव और पुद्गल की क्रियायें भी देखी जाती हैं, इनकी क्रियाओं के निमित्त-कारण धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य हैं। जैन दर्शन इन द्रव्यों के समूह को **जगत्, लोक** या **विश्व** कहता है।

विश्व के मूल : तत्त्व की परिभाषा—भारतीय साहित्य में तत्व के विषय में गम्भीर रूप से विचार किया गया है क्योंकि विश्व का निर्माण कुछ ही तत्वों के कारण होता है। दर्शन साहित्य के क्षेत्र में तत्व का प्रयोग गम्भीर चिन्तन-मनन के लिए हुआ है। चिन्तन-मनन का प्रारम्भ ही तत्व-वस्तु स्वरूप के विश्लेषण से होता है। **किं तत्वम्**—तत्व क्या है ? यही मूलभूत जिज्ञासा दर्शन-क्षेत्र का विषय है। **तत्** शब्द से

१. उत्तरपुराण, ४३/३५-४०
२. आदिपुराण, १/१५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्व शब्द बना है। संस्कृत भाषा में **तत्** शब्द सर्वनाम है सर्वनाम शब्द सामान्य अर्थ के वाचक होते हैं। **तत्** शब्द से भाव अर्थ में **त्व** प्रत्यय लगकर **तत्त्व** शब्द बना है जिसका अर्थ होता है उसका भाव—**तस्य भावः तत्त्वम्**, अतः वस्तु के स्वरूप को और स्वरूपभूत वस्तु को तत्व कहा जाता है।

लौकिक दृष्टि से तत्व शब्द का अर्थ है—वास्तविक स्थिति, यथार्थता, सारवस्तु, सारांश। दार्शनिक चिन्तकों ने परमार्थ, द्रव्य-स्वभाव, पर-अपर, ध्येय, शुद्ध, परम के लिए भी तत्व शब्द का प्रयोग किया है। वेदों में परमात्मा तथा ब्रह्म के लिए एवं सांख्यमत में जगत् के मूल कारण के लिए तत्व शब्द आता है।

जीवन में तत्व का महत्वपूर्ण स्थान है। जीवन और तत्व—ये दोनों एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। तत्व से जीवन पृथक् नहीं किया जा सकता है और तत्व के अभाव में जीवन गतिशील नहीं हो सकता। जीवन में से तत्व को पृथक् करने का अर्थ है—आत्मा के अस्तित्व से इन्कार करना।

समस्त भारतीय-दर्शन तत्व के आधार पर खड़े हुए हैं। प्रत्येक दर्शन ने अपनी-अपनी परम्परा और अपनी कल्पना के अनुसार तत्व-मीमांसा और तत्व-विचार को प्रतिपादित किया है। भौतिकवादी चार्वाक दर्शन ने भी तत्व को स्वीकार किया है। वह पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि ये चार तत्व मानता है, आकाश को नहीं, क्योंकि आकाश का ज्ञान प्रत्यक्ष से न होकर अनुमान से सिद्ध होता है। वैशेषिक दर्शन ने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव इन मूलभूत तत्वों (पदार्थों) को स्वीकार किया है। न्याय-दर्शन में प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान—ये सोलह पदार्थ माने गए हैं। सांख्य-योग दर्शन में प्रकृति, महत्, अहंकार, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, पांच तन्मात्रायें, मन, पंचमहाभूत और पुरुष ये पच्चीस तत्व माने हैं। मीमांसा दर्शन वेदविहित कर्म को सत् और तत्व मानता है। वेदान्त दर्शन एकमात्र ब्रह्म को सत् मानता है और शेष सभी को असत् मानता है। बौद्ध दर्शन ने दुःख, दुःख-समुदय, दुःख-निरोध और दुःख-निरोध के मार्ग का विश्लेषण किया है। जैन दर्शन इसे ही षड्द्रव्य और सप्ततत्व के रूप में या नवपदार्थ के रूप में स्वीकार करता है। द्रव्य, तत्व और पदार्थ—ये तीनों ही वस्तुस्वरूप की अभिव्यक्ति के साधन हैं। कुन्दकुन्द ने तत्व, अर्थ, पदार्थ और तत्वार्थ—इन शब्दों को एकार्थक माना है।[1]

सत्, सत्व, तत्व, तत्वार्थ, अर्थ, पदार्थ और द्रव्य पर्यायवाची हैं। सत् और द्रव्य को तत्व कहा गया है। जो सत् है वह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप है। जो तत्व है, वह सत् और जो सत् है, वह द्रव्य है। **यत्क्षणिकं तत्सत्**—जो क्षणिक है, वही सत् या सत्य है, ऐसी बौद्ध की मान्यता है। वेदान्त ब्रह्म को सत् मानता है, इसके अलावा सभी मिथ्या है। परन्तु यह दृष्टि जैन दर्शन की नहीं। वह प्रत्येक द्रव्य को द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से देखता है। द्रव्य का कभी नाश नहीं होता, पर पर्याय-दृष्टि से उत्पादव्ययरूप परिणमन होता रहता है। प्रत्येक वस्तु को समझाने के लिए इसी तरह की दृष्टि चाहिए। तत्व शब्द भाव-सामान्य का वाचक है। **तत्** यह सर्वनाम है जो भाव-समान्य वाची है अतः तत्व शब्द का अर्थ है—जो पदार्थ जिस रूप में है, उसका उसी रूप में होना।[2] **जीवादीनां पदार्थानां याथात्म्यं तत्वमिष्यते**[3] अर्थात् जीवादि पदार्थों का यथार्थस्वरूप ही तत्व कहलाता है। वह तत्व ही सम्यग्ज्ञान का अंग अर्थात् कारण है।

तत्वों की संख्या—तत्व सामान्य की दृष्टि से एक है यह जीव और अजीव के भेद से दो प्रकार का है। जीव के भी संसारी और मुक्त ये दो भेद माने गये हैं। संसारी जीव के दो भेद हैं—भव्य और अभव्य। इस प्रकार आचार्य जिनसेन ने तत्व के चार भेद बताये हैं जो अपने आप में एक नवीन शैली को दर्शाते हैं—१. मुक्तजीव, २. भव्यजीव, ३. अभव्यजीव तथा ४. अजीव।

मूर्तिक और अमूर्तिक के रूप में अजीव के दो भेद हो जाने के कारण प्रकारान्तर से तत्व के निम्न भेद[4] कहे जा सकते हैं—१. संसारी, २. मुक्त, ३. मूर्तिक और ४. अमूर्तिक।

इन तत्वों का विवेचन करते हुए आचार्य जिनसेन ने मोक्ष-मार्ग में प्रवृत्त होने वाले मुनियों के रहन-सहन, आचार-विचार एवं उनके गमनागमन के नियमों का भी वर्णन किया है।

इन मूल दो तत्वों का ही सात तत्वों के रूप में विस्तार होता है—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। इसका मूल कारण यह है कि **जीव ही अजीव** की क्रियाओं का **कर्त्ता है**। जड़ क्रियाओं से कर्मों का आवागमन—**आस्रव-बन्ध** होता रहता है। जिस तरह नाव में छिद्र होने से पानी आता रहता और एकत्रित होता रहता है, उसी तरह **आस्रव-बंध** कर्म भी आते और एकत्रित होते रहते हैं। इनके हटाने का कोई मार्ग भी तो होना चाहिए? **संवर** द्वारा कर्मों (नाव के छिद्र को बंद कर देने से पानी) का आना रुक जाता है। **निर्जरा**

१. पंचास्तिकाय, गा० ११२-११६
२. तत्वार्थराजवार्तिक, १/२
३. आदिपुराण, २४/८६
४. आदिपुराण, २४/८८-२०८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वारा (नाव में आये हुए पानी की तरह) कर्म अलग हो जाते हैं। प्रत्येक जीव का लक्ष्य दुःख से निवृत्ति की ओर जाना है। इन कर्मों का अभाव हो जाने पर आनन्द का एक ही स्रोत रह जाता है जिसे **मोक्ष** (निर्वाण) कहते हैं।

तत्व क्रम—सर्वप्रथम जीव को ही क्यों स्थान दिया ? जीव ही ज्ञान-दर्शन है, कर्मों का भोक्ता, शुभ-अशुभ को भोगने वाला है। यदि जीव न हो तो पुद्गल का उपयोग नहीं हो सकता, जीव की गति, स्थिति एवं अवगाह में पुद्गल ही सहकारी है, अतः अजीव आवश्यक हुआ। जीव-पुद्गल के संयोग से ही संसार है। संसार के कारण आस्रव-बन्ध हैं। संवर और निर्जरा मोक्ष के कारण हैं। अतः तत्वों का उक्त क्रम से वर्णन किया है। यही क्रम संयोग-वियोग और आध्यात्मिक दृष्टि से भी प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

कुशाग्र बुद्धि वाला इन जीव-अजीव तत्वों के आधार पर अपना गन्तव्य-पथ प्राप्त कर लेता है क्योंकि वह समझता है कि जीव ही ज्ञानचेतनामय है और ज्ञान आत्म-गुण से युक्त है। जो आत्म-स्वरूप को जानता है वह सबकुछ जानता है। आत्म-स्वरूप ही परमात्मरूप है दूसरी ओर मन्दबुद्धि वाला जब तक संयोग-वियोग अर्थात् कर्म के कारणों को तथा मोक्ष के कारणों को नहीं समझ लेगा, तब तक वह गन्तव्य-पथ प्राप्त करने में समर्थ नहीं हो सकता। आस्रव-बन्ध, शुभाशुभ, पुण्य-पाप के संयोग रूप कारण संसार में परिभ्रमण कराने वाले हैं और संवर, निर्जरा और मोक्ष वियोग-रूप-कारण आनन्दस्वरूप मुक्ति-पथ की ओर ले जाने वाले हैं। इस तरह जीव-अजीव रूप समास शैली और आस्रव, बन्ध (पुण्य-पाप), संवर, निर्जरा रूप व्यास शैली का प्रयोग किया गया है। इससे जिज्ञासु भली-भांति इन तत्वों को समझकर मुक्ति-पथ को प्राप्त कर सकते हैं।

आध्यात्मिक दृष्टि से भी जीव-अजीव तत्व ज्ञेय हैं। साधक (मुक्ति पथ की खोज करने वाले) के लिए इन दोनों तत्वों का ज्ञान आवश्यक है क्योंकि ये ज्ञेय-स्वरूप हैं अर्थात् ज्ञान द्वारा जाने जाते हैं। आस्रव और बंध संसार के कारण होने से हेय (छोड़ने योग्य), संवर, निर्जरा और मोक्ष उपादेय (ग्रहण करने योग्य) तत्व हैं। सात तत्वों में जीव-अजीव (धर्म, अधर्म, आकाश और काल) द्रव्यों में जीव अरूपी है तथा पुद्गल रूपी है, क्योंकि रूप, रस, गन्ध, वर्ण—ये पुद्गल के स्वरूप हैं। द्रव्य-दृष्टि से जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश—ये पांच द्रव्य अस्तिकाय हैं और कालद्रव्य अस्तिकाय नहीं है, क्योंकि कालद्रव्य प्रदेश-समूह नहीं है।

आत्मा और ब्रह्म—भारतीय दार्शनिक आत्मा को किसी न किसी रूप में अवश्य स्वीकार करते हैं। न्याय-वैशेषिक आत्मा को नित्य मानता है और इसे ज्ञाता, कर्त्ता और भोक्ता स्वीकार करता है। वह ज्ञान को आत्मा का आगन्तुक गुण भी मानता है। जैन दर्शन ज्ञान को आत्मा का सहज गुण मानता है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार जब आत्मा का मन और शरीर से संयोग होता है, तभी उसमें चैतन्य की उत्पत्ति होती है। मीमांसा दर्शन का मत भी यही है। वह भी चैतन्य और ज्ञान को आत्मा का आगन्तुक गुण मानता है। सुख-दुःख का अत्यन्त विनाश होने पर आत्मा अपनी स्वाभाविक मोक्ष अवस्था को प्राप्त कर लेता है, इस समय आत्मा चैतन्यरहित हो जाता है। सांख्य-योग चैतन्य को आत्मा का आगन्तुक धर्म नहीं मानता। पर इनका आत्मा (पुरुष) अकर्ता है, वह सुख-दुःख की अनुभूतियों से रहित है। प्रकृति अपने आपको तदाकार करने के कारण सुख-दुःख रूप और सतत क्रियाशील है, जबकि पुरुष शुद्ध-चैतन्य और ज्ञान स्वरूप है। वेदान्त दर्शन आत्मा को ही सत्य मानता है, जो सत्-चित्-आनंद स्वरूप है। अवैदिक दर्शनों में चार्वाक आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार ही नहीं करता है, वह तो केवल चैतन्य-युक्त शरीर को ही सबकुछ मानता है। बौद्ध अनात्मवादी है, वह आत्मा को अनित्य मानता है। शून्यवादी विज्ञानवादी का कहना है कि आत्मा क्षणिक है, विज्ञान-सन्तानमात्र है जो क्षण-क्षण में जल के बबूले की तरह परिवर्तनशील है। लेकिन जैन दर्शन आत्मा को नित्य मानता है। यह अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य से युक्त है। जब तक यह बाह्य क्रियाओं के प्रति लगा रहता है तब तक उसके ये गुण आच्छादित ही रहते हैं और जब कर्मों का आवरण हट जाता है तब वही आत्मा इन गुणों से युक्त होकर परमात्मरूप को प्राप्त कर लेता है। आत्मा की उत्कृष्ट अवस्था को ही जैन दर्शन में परमात्मा कहा है।

आदिपुराणकार ने आत्मा को ज्ञानयुक्त कहा है।[१] ज्ञान आत्मा का निज गुण है, आगन्तुक गुण नहीं है। तत्वज्ञ पुरुष उन्हीं तत्वों को मानते हैं जो सर्वज्ञ देव के द्वारा कहे हुए हों।[२]

आचार्य जिनसेन अन्य भारतीय दर्शनों के समान ब्रह्मतत्व को भी स्वीकार करते हैं। पर वे इसे वेदान्त की तरह सबकुछ नहीं मानते। अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु—इन पंचपरमेष्ठियों को पंचब्रह्मस्वरूप मानते हैं। जो योगिजन परमतत्व परमात्मा का बार-बार ध्यान करते हैं, वे **ब्रह्मतत्व** को जान लेते हैं। इससे आत्मा में जो परम आनन्द होता है, वही जीव का सबसे बड़ा ऐश्वर्य है।

आदिपुराण के अनुसार आत्मा ही ब्रह्मतत्व रूप है, प्रत्येक आत्मा ब्रह्मतत्व रूप है। इस ब्रह्मतत्व की शक्ति की अभिव्यक्ति का नाम परमात्मा या परमब्रह्म है। यह परमब्रह्म ही ऐश्वर्य गुणों से युक्त होने के कारण ईश्वर कहा जा सकता है, पर यह ईश्वर जगत्कर्त्ता

१. आदिपुराण, ५/६८
२. आदिपुराण, ५/८५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

या हर्त्ता नहीं।

मोक्ष—भौतिकतावादी चार्वाक को छोड़कर सभी भारतीय दर्शन मोक्ष के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। सभी दार्शनिकों ने दुःख की आत्यंतिक निवृत्ति को मोक्ष कहा है। न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग के अनुसार दुःख के आत्यन्तिक उच्छेद हो जाने का नाम मोक्ष है। यह तत्व-ज्ञान से ही होता है। मीमांसा दर्शन भी दुःख के आत्यन्तिक अभाव को मोक्ष मानता है। वेदान्त दर्शन ने जीवात्मा और ब्रह्म के एकीभाव को मोक्ष कहा है। विशुद्ध सत्, चित् और आनन्द की अवस्था ही ब्रह्म है और यह अवस्था अविद्या रूप बंधन के कारण के समाप्त होने पर ही प्राप्त होती है। बौद्ध ने निर्वाण को माना है—यह सब प्रकार के अज्ञान के अभाव की अवस्था है। **धम्मपद,** २०२/३ में निर्वाण को एक आनन्द की अवस्था, परमानन्द, पूर्णशांति, लोभ, घृणा तथा भ्रम से मुक्त कहा है।

जैन दर्शन ने आत्मा की विशुद्ध अवस्था को मोक्ष कहा है। समस्त कर्मों का क्षय हो जाने से अनन्त-सुख रूप मोक्ष की प्राप्ति होती है और यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप साधन से प्राप्त होता है। इस अवस्था में वह अनन्त-चैतन्यमय गुण से युक्त हो जाता है। इस अवस्था में आत्मा का न तो अभाव होता है, न ही अचेतन। किसी भी **सत्** का विनाश नहीं होता इसलिए आत्मा का अभाव नहीं हो सकता। कर्म पुद्गल-परमाणुओं के छूट जाने पर ही मोक्ष होता है। इस अवस्था में आत्मा निज-स्वरूप में अवस्थित रहता है।

आचार्य जिनसेन ने जीव की अवस्था के लिए **स्वतन्त्रता** और **परतन्त्रता**—इन दो शब्दों का प्रयोग किया है जो अपने आप में नवीनतम हैं। उन्होंने बतलाया कि "संसार में यह जीव किसी प्रकार स्वतन्त्र नहीं है, क्योंकि कर्म-बन्धन के वश होने से यह जीव अन्य के आश्रित होकर जीवित रहता है, इसलिए वह **परतन्त्र** है। जीवों की इस परतन्त्रता का अभाव होना ही **स्वतन्त्रता** है। अर्थात् कर्म-बन्धन जीव की परतन्त्रता के कारण कहे जा सकते हैं और कर्म-बन्धन रूप परतन्त्रता (संसार) का अभाव जीव की स्वतन्त्रता (मोक्ष) का परिचायक है।

धर्म और दर्शन का सम्बन्ध—धर्म और दर्शन का सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ है। ये मानव-जीवन के अनिवार्य अंग माने गये हैं। मानव का जो विचारात्मक दृष्टिकोण है, वह है दर्शन और जब वह इसे अपने जीवन में उतारने लगता है, तब वह धर्म कहलाने लगता है। दर्शन और धर्म एक दूसरे के पूरक साधन हैं या कहे जा सकते हैं। सत्य की खोज जीवन की गहराई में है। दर्शन मानव की विचारात्मक शक्ति को जागृत करने के लिए है। यह मानव का अपने जीवन के मूल्यांकन करने का साधन है। धर्म शांति, सामंजस्य, दुःख की निवृत्ति आदि कारणों तक ही मानव को ले जाता है और दर्शन जीव, जगत्, ईश्वर आदि विशेष सैद्धान्तिक कारणों को तर्क-वितर्क की कसौटी पर कसकर बौद्धिक जगत् में प्रयुक्त करके दिखला देता है।

जिनसेन ने इसी के अनुरूप अपने पुराण में धर्म का कथन किया है—"हे राजन्! धर्म से इच्छानुसार सम्पत्ति मिलती है, इच्छानुसार सुख की प्राप्ति होती है, मनुष्य प्रसन्न रहते हैं, राज्य, सम्पदायें, भोग, योग्य कुल में जन्म, सुन्दरता, पाण्डित्य, दीर्घ आयु और आरोग्य इसी के कारण हैं। हे विभो! जिस प्रकार कारण के बिना कभी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती, दीपक के बिना किसी ने प्रकाश नहीं देखा, बीज के बिना अंकुर नहीं होता, मेघ के बिना वृष्टि नहीं होती और छत्र के बिना छाया नहीं होती, उसी प्रकार धर्म के बिना उक्त सम्पदायें प्राप्त नहीं हो सकतीं। इतना ही नहीं जिस प्रकार विष खाने से जीवन नहीं होता, बंजर जमीन से धान्य उत्पन्न नहीं होता और अग्नि से शीतलता नहीं मिलती, उसी प्रकार अधर्म से सुख की प्राप्ति सम्भव नहीं।"

धर्म स्वर्ग आदि अभ्युदय तथा मोक्ष पुरुषार्थ का साधन है।[1] समग्र कल्याण का कारण धर्म है। **धर्मो हि शरणं परमं**[2] अर्थात् धर्म ही परम शरण है। इस संसार में वही पुरुष श्रेष्ठ है, वही कृतार्थ है और वही पण्डित है जिसने धर्म की वास्तविकता को पहचान लिया है।[3] इस संसार में धर्म के बिना स्वर्ग कहां? स्वर्ग के बिना सुख कहां? इसलिए सुख चाहने वाले पुरुषों को चिरकाल तक धर्म रूपी कल्पवृक्ष की सेवा करनी चाहिए।[4] जिनसेन के अनुसार—**"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसार्थसिद्धिः सुनिश्चिता स धर्मः**[5] अर्थात् जिससे इहलोक और परलोक की निश्चित रूप से सिद्धि होती है, वह धर्म कहलाता है। इसलिए प्राणीमात्र के प्रति अपना कर्तव्य समझ कर आत्मकल्याण और विश्व-शांति की दृष्टि से धर्म-पालन अवश्य करना चाहिए। यह समाज, देश एवं राष्ट्र के गौरव का साधन है और हमारी संस्कृति-सभ्यता का भी यही रक्षक है।

---

१. आदिपुराण, ५/१५-२०
२. आदिपुराण, ६/२०
३. 'लब्धं तेनैव सज्जन्म, स कृतार्थः स पण्डितः ।', आदिपुराण, ९/१३०
४. 'ऋते धर्मात् कुतः स्वर्गः कुतः स्वर्गादृते सुखम् ।
तस्मात् सुखार्थिनां सेव्यो धर्मकल्पतरुश्चिरम् ॥'. आदिपुराण, ९/१८८
५. आदिपुराण, ५/२०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org